न्यूज़ चैनल

तमाशा और एजेण्डा सेटिंग

अटल तिवारी

समीक्षा

जिस दौर में मुख्यधारा का अधिकतर मीडिया सरकार की गोद में बैठ कर पत्रकारिता करने का स्वाँग कर रहा हो, उस समय में देश के प्रमुख मीडिया विश्लेषक आनंद प्रधान की किताब *तमाशा मेरे आगे / चैनलशास्त्र : न्यूज़ टेलीविज़न पर ख़बरों का तमाशा* का छपना पत्रकारिता जगत के लिए एक सुखद अनुभूति है। किताब में शामिल सभी टिप्पणियाँ पाक्षिक पत्रिका *तहलका* हिंदी में 2009 से 2014 के बीच प्रकाशित हुई थीं। इनका काल डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) की दूसरी सरकार से ले कर पिछले आम चुनाव से काफ़ी पहले भाजपा की ओर से घोषित प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री बनने के पाँच महीने बाद तक का है। ऐसे में यह किताब देश के दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों (कांग्रेस और भाजपा) की सरकारों के शासनकाल के दौरान राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य में टेलीविज़न न्यूज़ चैनलों के कवरेज के तरीक़े, कंटेंट, भाषा, फ्रेमिंग और उनकी एजेण्डा सेटिंग को समझने में मदद करती है।

ये टिप्पणियाँ समीक्षित मीडिया की तात्कालिकता को तो सम्बोधित करती ही हैं, वहीं पाठकों को न्यूज़ चैनल देखने की एक आलोचनात्मक समझ विकसित करने में मदद करने वाली है। पुस्तक में संकलित कुल 98 टिप्पणियाँ छोटी-छोटी हैं, परंतु लेखक की ख़ूबी है कि वह हर बड़ी से लेकर छोटी घटना पर नज़र रखता है। इस प्रक्रिया में वह देखता है कि न्यूज़ चैनल किस राजनीतिक दल को किस ख़ास समय में ब्लैक आउट कर देते हैं तो किस ख़ास दल पर ज़रूरत से ज़्यादा प्रेम दिखाते हैं। मीडिया का यही रवैया एक समय में आम आदमी पार्टी (आप) को लेकर रहा है, जिसे लेखक ने अपनी एक टिप्पणी में रेखांकित किया है, 'दिल्ली विधानसभा चुनावों में आप की कामयाबी के

तमाशा मेरे आगे / चैनल शास्त्र : न्यूज़ टेलीविजन पर खबरों का तमाशा
आनंद प्रधान
आधार प्रकाशन, एस.सी.एफ. 267, सेक्टर-16,पंचकूला-134113 (हरियाणा)
मूल्य : 450 रु., पृष्ठ : 272

बाद चैनलों और अख़बारों में जिस तरह से दिन-रात राग आप क्रांति बज रहा था और उसमें सिर्फ़ खूबियाँ ही खूबियाँ नजर आ रही थीं, वह किसी भी नेता, पार्टी और उसके समर्थकों का दिमाग ख़राब कर सकती हैं। यही हुआ। चैनलों और अख़बारों की अहर्निश प्रशंसा का नशा आप पार्टी के कई मंत्रियों, नेताओं और कार्यकर्ताओं के सिर चढ़कर बोल रहा है।' यही कारण रहा कि जब कुछ समय बाद मीडिया का आप को लेकर यह प्रशंसा गान ग़ायब हुआ तो पार्टी के नेता छटपटाने लगे। हालाँकि यह गान ग़ायब करने के पीछे के कारण दूसरे थे, जिससे अपरोक्ष रूप से उन्हें एक बड़े कॉरपोरेट घराने की अनदेखी से विज्ञापनी क्षति पहुँच रही थी या पहुँचने का अंदेशा था, सो उक्त घराने के दबाव में गान ही नहीं ग़ायब हुआ बल्कि आप सरकार का हर काम मीडिया को संदिग्ध नज़र आने लगा।

इस घटना के उलट न्यूज़ चैनलों का नरेंद्र मोदी प्रेम भी जगज़ाहिर है। इसकी शुरुआती बानगी मई, 2012 में भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में तब देखने को मिली थी, जब मोदी के पहुँचने से ले कर समापन रैली में उनके भाषण तक का न्यूज़ चैनलों पर लाइव प्रसार किया जा रहा था। इस कवरेज के आगे भाजपा के सभी दिग्गज धराशायी हो गये थे। दल के इस जलसे में चहुँ ओर मोदी ही छाए थे। इस मोदीमय माहौल में असहज महसूस कर रहे लालकृष्ण आडवाणी और सुषमा स्वराज जैसे नेता समापन रैली में शामिल तक नहीं हुए थे। उस समय चैनलों, ख़ासकर हिंदी न्यूज़ चैनलों के इस मोदी लाइव के ख़तरे को कम ही लोग समझ रहे थे। ऐसे में आनंद प्रधान ने इसके प्रति आगाह करते हुए लिखा था, 'मोदी और उनकी राजनीति के प्रति चैनलों का यह अन-क्रिटिकल रवैया कई कारणों से चिंता का विषय है। मोदी के ताज़ा भाषण से साफ़ है कि उनकी राजनीति और भाषणों ने गुजरात में जिस तरह के साम्प्रदायिक विभाजन और गोलबंदी को बढ़ावा दिया है, वे उसी राजनीति के साथ राष्ट्रीय रंगमंच पर उतरना चाहते हैं।' यहाँ लेखक ने जिन शंकाओं को ज़ाहिर किया था, आज छह साल बाद वे कमोबेश साकार होती दिख रही हैं। मोदी और अमित शाह के नेतृत्व में केंद्र सरकार गुजरात से कहीं अधिक साम्प्रदायिक विभाजन, गोलबंदी, झूठ-फ़रेब और इतिहास के विकृतीकरण करने में लगी है। इतना सब होने के बावजूद अधिकांश चैनल मोदी की गतिविधियों को लाइव काट रहे हैं। मोदी-शाह और भाजपा चालीसा जारी है। आम चुनाव से क़रीब दो साल पहले जिस तरह से मोदी का पार्टी फ़ोरम पर दबदबा क़ायम हुआ और आगे चल कर उनके नेतृत्व में पार्टी ने रिकॉर्ड जीत दर्ज की तो उसे भी लेखक ने दर्ज किया, 'इस जीत में मोदी की सुनियोजित तरीक़े से गढ़ी हुई लार्जर दैन लाइफ़ और उसकी ज़बरदस्त मार्केटिंग की बड़ी भूमिका है। इसे अनदेखा करना मुश्किल है कि 2002 के गुजरात दंगों और फ़र्ज़ी मुठभेड़ों से ले कर एक महिला की जासूसी कराने और चहेते कॉरपोरेट समूहों को लाभ पहुँचाने जैसे विवादों और आरोपों से घिरे रहने के बावजूद कॉरपोरेट मीडिया-पीआर-विज्ञापन कॉम्प्लेक्स ने मोदी को एक सख़्त, प्रभावी और सफल प्रशासक और विकास पुरुष की छवि निर्मित करने और फिर उसे मतदाताओं को सफलतापूर्वक

कॉरपोरेट मीडिया हमेशा अपने मंसूबों में कामयाब नहीं होता। 2004 के लोकसभा चुनाव के समय लगभग पूरा भारतीय मीडिया अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली राजग सरकार के दोबारा सत्ता में आने का ऐलान कर रहा था। वह 'शाइनिंग इण्डिया' के नशे में खोया हुआ था, लेकिन जब चुनाव परिणाम आया तो जनता ने राजग सरकार को पटकनी देते हुए संप्रग का पलड़ा भारी कर दिया।

बेचने में कामयाबी हासिल की है।'

मीडिया द्वारा गढ़ी गयी इस छवि का इस्तेमाल उन्होंने केवल चुनाव जीतने तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उससे आगे बढ़ कर अपना अथवा अपनी सरकार का महिमामण्डन करने में भी उसका हर तरीक़े से इस्तेमाल कर रहे हैं। असल में 'बड़ी और यथास्थितिवादी राजनीतिक पार्टियाँ न्यूज़ चैनलों के ज़रिये और उनकी सक्रिय मदद से राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीति का एजेण्डा तय कर रही हैं, जनमत बना और तोड़-मरोड़ रही हैं और भारतीय राजनीति की दशा और दिशा तय कर रही हैं। राजनीति और चुनावों पर न्यूज़ चैनलों के प्रभाव का ही नतीजा है कि आज भारतीय लोकतंत्र भी विकसित पश्चिमी देशों की तरह एक 'टेलीविज़न जनतंत्र' (टेलिवाइज़्ड डेमॉक्रैसी) बनने की ओर बढ़ चला है। इससे भारतीय राजनीति में ईवेंट मैनेजमेंट और पीआर-विज्ञापन उद्योग का ज़ोर बढ़ने के साथ-साथ बड़ी पूँजी और थैली का महत्त्व भी बढ़ता जाएगा।' इस बात को गत लोकसभा चुनाव के बाद भाजपा जिस तरीक़े से विधानसभा चुनावों को लेकर अपनी रणनीति बना रही है, प्रचार के हथकण्डे अपना रही है, किस तरह की भाषा इस्तेमाल कर रही है, सरकारें बनाने (बहुमत वाले राज्यों को छोड़कर) के लिए कैसी चालें चल रही है— उससे समझा जा सकता है।

वैसे, भारत ही नहीं वैश्विक स्तर पर देखा जाए तो कॉरपोरेट मीडिया हमेशा अपने मंसूबों में कामयाब नहीं होता। 2004 के लोकसभा चुनाव के समय लगभग पूरा भारतीय मीडिया अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली राजग सरकार के दोबारा सत्ता में आने का ऐलान कर रहा था। वह 'शाइनिंग इण्डिया' के नशे में खोया हुआ था, लेकिन जब चुनाव परिणाम आया तो जनता ने राजग सरकार को पटकनी देते हुए संप्रग का पलड़ा भारी कर दिया। इसी तरह 2014 में मोदी सरकार बनने के बाद साल भर बाद हुए दिल्ली विधानसभा के चुनाव में शायद ही किसी मीडिया हाउस ने कांग्रेस और भाजपा का सूपड़ा साफ़ होने और आम आदमी पार्टी के बहुमत पाने की बात की हो, लेकिन दिल्ली की जनता ने आप को ऐतिहासिक बहुमत से नवाज़ दिया। इस चुनाव में मोदी सरकार ने गली-मोहल्ले तक चुनावी सभाएँ की थीं। मीडिया एक तरह से चुनाव परिणाम आने के पहले ही भाजपा को विजयी और

किरण बेदी को मुख्यमंत्री तक बताने लगा था। यही कारण था कि जब जनता का फ़ैसला आया तो मीडिया पर आरोप लगा कि 'भाजपा ही नहीं मीडिया भी हारा'। इसी कड़ी में गुजरात और गोवा विधानसभा चुनावों को भी देखा जाना चाहिए, जहाँ कमोबेश पूरा मीडिया कांग्रेस को बहुत कमज़ोर और भाजपा को मज़बूत बताता रहा, लेकिन जनता के फ़ैसले ने कांग्रेस को भाजपा के बराबर ला कर खड़ा कर दिया। कॉरपोरेट मीडिया के इसी परिप्रेक्ष्य में पिछले अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव को भी देखा जाना चाहिए, जिसमें वहाँ का उदारतावादी मीडिया हिलेरी क्लिंटन के पक्ष में था। और वह लगातार उसी तरह की सामग्री परोस रहा था, लेकिन चुनाव परिणाम आया तो जनता ने ट्रम्प पर विश्वास जताया। ये कुछ चुनावी परिणाम बताते हैं कि मुख्यधारा का मीडिया भले ही किसी दल अथवा व्यक्ति से सम्बद्ध हो कर काम करने लगे, लेकिन हर बार वह अपने मंसूबे में कामयाब नहीं होता। भारत की केंद्रीय राजनीति में 2014 में मोदी अथवा भाजपा को इसलिए भी ऐतिहासिक जीत मिली कि जनता संप्रग सरकार के दस साल के शासन से ऊब चुकी थी। उसके नित नये कारनामे सामने आ रहे थे, हालाँकि उनको बढ़ाने-चढ़ाने में भी मीडिया का बड़ा रोल था। लेकिन संप्रग सरकार से ऊबी जनता को मोदी एक मसीहा के रूप में नज़र आये और उसने उन पर विश्वास जताया तो बहुत कुछ श्रेय मीडिया-पीआर-लॉबिंग को गया।

राजनीति और मीडिया का ककहरा समझने का दावा करने वाले लोग अगर पिछले चुनावों की तरह ही 2014 के चुनाव को समझने का प्रयास करेंगे तो वे कभी उसे सही मायने में नहीं समझ सकेंगे या यूँ कहें कि इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक की भारतीय राजनीति को समझने के लिए उन्हें नये उपादान विकसित करने पड़ेंगे। 'यह देश का पहला टेलीविज़न पर राष्ट्रपति शैली में लड़ा गया चुनाव था जिसमें छवि, मुद्दा और एजेण्डा गढ़ने में चैनलों ने सीधी और सक्रिय भूमिका निभायी। वह जनमत को जिस ओर ले जाना चाहता था, उस ओर ले जाने में कामयाब रहा। इसके लिए हवा बनाने वाले चुनाव-पूर्व सर्वेक्षणों से लेकर प्रायोजित साक्षात्कारों और चुनावी रैलियों की लाइव कवरेज तक क्या नहीं किया गया!' चैनलों का यह नाटक आज भी जारी है, क्योंकि चार साल वाली मोदी सरकार अधिकतर मोर्चों पर फेल साबित हो रही है। उसके किये अधिकांश वायदे जुमलों में बदलते चले गये हैं। इसके बावजूद अधिकांश मीडिया में मोदी सरकार का गान जारी है। ऐसे में अगर कोई न्यूज़ हाउस अथवा पत्रकार तटस्थ होकर पत्रकारिता करता है, करने का प्रयास करता है तो मोदी समर्थक, भाजपा, उसकी आईटी सेल और संघ भक्त उसे ट्रोल का शिकार बनाते हैं।

मोदी अपने मुख्यमंत्रित्व काल के अंतिम दौर में कुछ मामलों को लेकर गुजरात की राज्यपाल कमला बेनीवाल पर हमलावर हो गये थे। लेकिन मीडिया उन मुद्दों की पड़ताल करने के बजाय मोदी के कहे हर शब्द को अक्षरशः दिखा/छाप रहा था। चैनलों की इस हरकत को लेखक ने दर्ज किया, 'मोदी ने गुजरात की राज्यपाल पर आरोप लगाया कि वे महिला होकर भी स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए 50 फ़ीसदी सीटें आरक्षित करने वाले विधेयक को मंजूरी नहीं दे रही हैं। ... मोदी का यह आरोप तुरंत सुर्खी बन गया और घंटों चैनलों पर चलता रहा। लेकिन किसी चैनल ने इस आरोप की और छानबीन करने की ज़रूरत नहीं समझी। भला हो, एनडीटीवी इण्डिया का जिस पर उस रात *तहलका* की राणा अयूब ने खुलासा किया कि यह विधेयक महिलाओं के लिए स्थानीय निकायों में 50 फ़ीसदी सीटें आरक्षित करने के प्रावधान के कारण नहीं बल्कि अनिवार्य वोटिंग के प्रावधान के कारण रोका गया है।' मीडिया में इस तरह की घटनाएँ दो परिस्थितियों में होती हैं। पहली-यह कि मीडिया जान-बूझकर सच का साथ नहीं देता बल्कि झूठ-फ़रेब का सहारा लेने वाले व्यक्ति से मिलकर वह दूसरे पक्ष को बदनाम करता है। दूसरी यह कि उसने खोजी पत्रकारिता को बिसरा दिया है। वह आरामतलब पत्रकारिता के साथ अब मिलीभगत वाली पत्रकारिता कर रहा है। यही वजह है कि घटनाक्रम कुछ भी हो, मामले की सच्चाई कुछ भी हो, लेकिन मीडिया मोदी और

भाजपा पर मेहरबान है तो वह इतिहास तोड़ने-मरोड़ने और विकृत करने में उनका साथ दे रहा है। उनकी धमकी भरी भाषा को प्रोत्साहित कर रहा है। मोदी और मीडिया की इस मिलीभगत पर कुछ अवधीभाषी मित्र एक कहावत को कुछ इस तरह बदल कर कहने लगे हैं : 'भैया न खाता न बही, जौनु मोदी भ्वालयं वहय सही।' फ़िलहाल हिन्दुस्तान का अधिकांश मीडिया इस बदली कहावत को पूरी तरह से चरितार्थ कर रहा है।

मीडिया में पाकिस्तान नामक शब्द सुनते ही पत्रकारों/एंकरों के कान खड़े हो जाते हैं। वह पाकिस्तान को औक़ात बता देने वाली भाषा का इस्तेमाल करने लगते हैं। न्यूज़ चैनलों में बहसों के नाम पर होने वाले नाटक के लिए चुन-चुन कर उसी तरह के 'विशेषज्ञ' बुलाए जाते हैं। इनमें अधिकतर सेना के रिटायर जनरल और रक्षा विशेषज्ञ शामिल होते हैं। तमतमाए चेहरे, भिंचे जबड़े, बीच-बीच में आक्रोश और रोने का अभिनय करने वाले दृश्य और मुँह से झाग फेंकते एंकर से लेकर कथित विशेषज्ञों का बस चले तो उसी स्टुडियो से पाकिस्तान पर हमला कर दें। 2012 के अंतिम महीनों में नियंत्रण सीमा-रेखा पर पाकिस्तान के साथ कुछ सैन्य झड़पें हुईं तो न्यूज़ हाउस का माहौल गरमा गया। 'चैनलों से लेकर अख़बारों तक में ख़बरों/बहसों के एंगल, भाषा और तेवर से साफ़ है कि वे युद्ध से कम कुछ भी नहीं चाहते हैं। सच यह है कि उनका वश चलता तो भारत-पाकिस्तान के बीच अब तक युद्ध शुरू हो चुका होता। हमेशा की तरह इस युद्धोन्मादी ब्रिगेड की अगुवाई *टाइम्स नाउ* और उसके एंकर 'जनरल' अर्णब गोस्वामी कर रहे हैं। लेकिन इस होड़ में कोई पीछे नहीं रहना चाहता है।'

ध्यान रखिए कि यह घटनाक्रम और लेखक की टिप्पणी संप्रग-दो की सरकार के समय की है। यह वह समय था कि जब भाजपा की ओर से नरेंद्र मोदी को आगे किया गया था। समय को थोड़ा आगे-पीछे करके देखें तो वे अपनी रैलियों से लेकर *इण्डिया टीवी* न्यूज़ चैनल के प्रायोजित बताए जाने वाले इंटरव्यू में कह रहे थे कि 'मनमोहन सरकार पाकिस्तान को लव लेटर लिखना बंद करे। उसको उसी की भाषा में जवाब दे।' उनके इस बड़बोलेपन पर प्रायोजित भीड़ तालियाँ बजा रही थी तो मोदी सरकार में पद्मभूषण से नवाजे जाने वाले पत्रकार रजत शर्मा खरे सवाल पूछने के बजाय मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे। वे इस बात का ध्यान रख रहे थे कि उनकी तरफ़ से एक भी सवाल ऐसा न हो, जिससे मोदी असहज हो जाएँ। सरकार में आने के बाद उन्हीं मोदी ने पाकिस्तान के साथ क्या किया, यह सभी को पता है। सैनिकों के खेत रहने की रफ़्तार कई गुना बढ़ी है। आये दिन सीमाई गाँवों से लोग पलायन को मजबूर हो रहे हैं। मोदी सरकार सर्जिकल स्ट्राइक कर वाहवाही लूटती है। उसका जम कर प्रचार करती है, जबकि किसी भी देश के लिए सीमावर्ती पड़ोसी देश से तनाव होने पर सेनाओं द्वारा की जाने वाली यह रुटीन प्रक्रिया होती है। लेकिन स्टुडियो में दहाड़ने वाले गोस्वामी

पाकिस्तान नामक शब्द सुनते ही पत्रकारों/एंकरों के कान खड़े हो जाते हैं। वे पाकिस्तान को औक़ात बता देने वाली भाषा का इस्तेमाल करने लगते हैं। न्यूज़ चैनलों में बहसों के नाम पर होने वाले नाटक के लिए चुन-चुन कर उसी तरह के 'विशेषज्ञ' बुलाए जाते हैं। इनमें अधिकतर सेना के रिटायर जनरल और रक्षा विशेषज्ञ शामिल होते हैं। तमतमाए चेहरे, भिंचे जबड़े, बीच-बीच में आक्रोश और रोने का अभिनय करने वाले दृश्य और मुँह से झाग फेंकते एंकर से लेकर कथित विशेषज्ञों का बस चले तो उसी स्टुडियो से पाकिस्तान पर हमला कर दें।

जैसी पत्रकारों की जमात में यह हिम्मत नहीं कि मोदी के सामने पुराना इंटरव्यू उद्धृत करके उनसे सवाल करे। ख़ैर! सवाल करेंगे भी कैसे? सरकार से एक्स और वाई श्रेणी की सुरक्षा हासिल करना और मुखर पत्रकारिता करना दोनों एक साथ नहीं हो सकते। वैसे पहले की सरकारों के समय भी न्यूज़ हाउस पाकिस्तान को लेकर सक्रियता दिखाते रहे हैं, लेकिन मौजूदा सरकार के समय तो लगभग सभी चैनलों में पाकिस्तान से जुड़ी एक सेल बनी है जो पलक झपकते ही बहस आयोजित कर डालती है। उससे जुड़े विषयों को महीनों खींच डालती है। इस तरह की पत्रकारिता में तथ्य, तर्क, विवेक और संयम का दूर-दूर तक सरोकार नहीं होता है।

पिछले वर्षों में हुए हर छोटे-बड़े साम्प्रदायिक दंगों में न्यूज़ मीडिया ख़ासकर क्षेत्रीय अख़बारों की भूमिका पर सवाल उठते रहे हैं। अख़बारों के एकपक्षीय, असंतुलित और भड़काऊ कवरेज से एक तबक़ा परिचित भी है। ऐसे में 2013 में मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के दौरान की जाने वाली पत्रकारिता भी इससे अलग नहीं थी, लेकिन इस बार सबसे ज़्यादा सवालों के घेरे में सोशल मीडिया था, जिसका भरपूर दुरुपयोग दोनों पक्षों के साम्प्रदायिक तत्वों ने किया। 'भगवा साम्प्रदायिक संगठनों ने बेहद शातिराना तरीक़े से स्थानीय हिंदी अख़बारों की हेडलाइन को बदल कर सोशल मीडिया पर अत्यंत भड़काऊ हेडलाइन लगाई, उसे सोशल मीडिया पर शेयर और प्रचारित किया। इसी तरह दोनों पक्षों के शातिर साम्प्रदायिक तत्वों/संगठनों ने दंगे में मारे गये लोगों की संख्या और उनकी धार्मिक पहचान को लेकर भी सोशल मीडिया और उससे बाहर अफ़वाहें फैलाने और एकतरफ़ा कुप्रचार के ज़रिये दोनों समुदायों को भड़काने की कोशिश की।' यह केवल मुज़फ़्फ़रनगर और उसके एक साल पहले हुए असम दंगों में ही नहीं हुआ बल्कि मोदी सरकार के बनने के बाद नित नये शहर में हो रही साम्प्रदायिक हिंसा में जैसे रूटीन हो गया है। इस तरह की साम्प्रदायिक हिंसा की कवरेज में भारतीय प्रेस परिषद की पत्रकारीय आचार संहिता सहित सभी नियम क़ायदों की धज्जियाँ उड़ाई जाती रही हैं। इस बात को इन दंगों की जाँच के लिए बने जस्टिस विष्णु सहाय आयोग ने भी अपने 775 पेजी दस्तावेज़ में रेखांकित किया है तो बाबरी मस्जिद विध्वंस की जाँच के लिए बने लिब्रहान आयोग ने अपनी रिपोर्ट में अख़बारों की नकारात्मक भूमिका पर एक अध्याय ही शामिल किया है।

धार्मिक पोंगापंथ को बढ़ावा देने के मामले में भी न्यूज़ हाउस आरोपों के घेरे में रहे हैं। उन्हीं के कारण पोंगापंथ वाली अनेक दुकानें फली-फूलीं। इसमें कुछ दुकानें तो इतनी ताक़तवर हो गयीं कि उनके किसी भी काम को मीडिया प्रश्नांकित करने की स्थिति में नहीं रह गया। मोदी से लेकर कुछ तत्कालीन प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री और राज्य सरकारें उनके चरणों में नतमस्तक होने लगीं। इसकी आड़ लेकर ये पोंगापंथी दुकानदार अपनी मनमर्जी पर उतारू हो गये। देखते ही देखते हुए वे धन पशु में बदल गये। इतने बड़े धन पशु कि बड़े-बड़े कॉरपोरेट को चुनौती देने लगे तो कुछ अपने रसूख़ के चलते अवैध कामों में भी लिप्त हो गये। ऐसे ही तथाकथित संत आसाराम पर जब अपने ही एक भक्त की बेटी (जो उन्हीं के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण कर रही थी) के साथ यौन दुर्व्यवहार का आरोप लगा तो लेखक ने न्यूज़ मीडिया की भूमिका को लेकर टिप्पणी की, 'इस बार भी गिरफ़्तारी से बचने के लिए उन्होंने (आसाराम) सभी पैंतरे आजमाए। उनके खुले-छिपे समर्थकों ने भी 'बापू' को बचाने के लिए पत्रकारों को पीटने से लेकर उपद्रव करने तक और इसे हिंदू धर्म पर हमला बताने तक क्या कुछ नहीं किया। लेकिन आसाराम बच नहीं पाए। निस्संदेह इसका श्रेय काफ़ी हद तक चैनलों और अख़बारों को जाता है। पुलिस प्रशासन और राज्य सरकार पर दबाव बनाने के लिए कुछ असहमतियों के बावजूद न्यूज़ मीडिया ख़ासकर चैनलों की आक्रामक कवरेज की प्रशंसा करनी पड़ेगी।' वैसे न्यूज़ मीडिया द्वारा इस घटना के किये गये कवरेज का मुख्य कारण सनसनी, विवाद और उससे मिलने वाली टीआरपी थी, लेकिन इससे भी बड़ी भूमिका तत्कालीन जनता दल (यूनाइटेड) के नेता शरद यादव की थी, जिन्होंने संसद में बेहद आक्रामक ढंग से आसाराम के कारनामों को उठाया

था। निचली अदालत के फ़ैसले में आसाराम को आजीवन कारावास हो चुका है। इसी कड़ी में राम-रहीम, रामपाल और वीरेंद्र देव दीक्षित जैसे लोग भी आते हैं। इसमें राम-रहीम को भी अपनी शिष्या से बलात्कार करने के जुर्म में सज़ा हो चुकी है तो रामपाल और वीरेंद्र देव अनेक मामलों में जेल की सलाखों के पीछे हैं। आसाराम सहित धार्मिक पोंगापंथ की दुकानें चलाने वाले ऐसे अधिकांश लोग भाजपा के प्रिय रहे हैं। वे अपरोक्ष रूप से उसके लिए काम करते रहे हैं। हाँ, इस मामले में कांग्रेस और उसके नेता भी दूध के धुले नहीं रहे हैं और सबसे बड़ी बात यह कि इन पोंगापंथियों को पनपाने में मीडिया की अपनी भूमिका रही है। 'देश को निर्मल बाबा और उनकी तीसरी आँख देने का बड़ा श्रेय चैनलों को जाता है। हालाँकि चैनलों ने देश को पहले भी कई बाबा/बापू/स्वामी दिये हैं लेकिन निर्मल बाबा शायद पहले ऐसे बाबा हैं जिनका पूरा कारोबार चैनलों के आशीर्वाद से खड़ा हुआ और फ़ला-फूला है।'

वैसे लगभग भूमण्डलीकरण के बाद की देन निजी टीवी न्यूज़ चैनलों का इतिहास बताता है कि जिसने इन चैनलों को साध लिया वह रातों-रात 'हीरो' बन जा रहा है। बड़ा नेता और बड़का बाबा बनता जा रहा है। रोग भगाने के लिए जिस तरह से दवा खाना ज़रूरी है, उसी तरह से बड़ा नेता अथवा बड़का बाबा बनने के लिए आज के समय में टीवी पर दिखना ज़रूरी है। इस तरह 'न्यूज़ चैनलों ने पारम्परिक राजनीति और राजनीति करने के तरीक़ों को काफ़ी बदल डाला है। आज नेताओं और पार्टियों में सबसे ज़्यादा होड़ न्यूज़ चैनलों के पर्दे पर ज़्यादा से ज़्यादा स्पेस और अनुकूल कवरेज पाने की है। वजह साफ़ है। आज न्यूज़ चैनलों को साधे बिना राजनीति में टिके रहना और आगे बढ़ना मुश्किल है, क्योंकि टीवी देश के 17.2 करोड़ घरों यानी औसतन 80-85 करोड़ लोगों तक पहुँच रहा है जिन पर चैनलों से आने वाले दृश्यों, उनसे बनने वाली छवियों और समझ का ख़ासा प्रभाव पड़ता है (पृ. 22)।' यह बात नरेंद्र मोदी और उनके चुनावी अभियान में ललकार भरने वाले रामदेव के मामले में पूरी तरह से लागू होती है। रामदेव के परिप्रेक्ष्य में लेखक का कहना है, 'चैनलों को रामदेव का तमाशाई व्यक्तित्व आकर्षित करता रहा है। ख़ासकर उनका बड़बोलापन, मजाकिया अदाएँ और तमाशाई अंदाज़ न्यूज़ चैनलों को अपने स्वभाव के माफ़िक़ लगता रहा है। कहते हैं कि उनके कार्यक्रमों और इंटरव्यू आदि की अच्छी-ख़ासी टीआरपी भी आती रही है। इससे रामदेव की अपनी रेटिंग भी बढ़ती रही है। इस तरह, पिछले कुछ वर्षों में दोनों एक-दूसरे के ज़रूरत से बन गये हैं।'

यही नहीं अब तो वह चैनलों और मोदी सरकार की अपरोक्ष मदद से इतने बड़े व्यवसायी हो गये हैं कि न्यूज़ हाउस को विज्ञापन देने में वह सारे रिकॉर्ड बना चुके हैं। यही हालत रही तो आने वाले कुछ वर्षों में शायद ऐसी कोई वस्तु नहीं होगी जो रामदेव की दुकान में न बन रही और बिक रही होगी। असल में कुछ साल पहले भ्रष्टाचार और कालेधन जैसे मसलों पर रामदेव ने बोलना शुरू किया। इस विषय पर राजनीतिक दलों और उनके नेताओं की साख जनता में बहुत ख़राब थी, जिसका लाभ उठाते हुए रामदेव और अण्णा हजारे जैसे लोगों ने अपने को एक धर्मयोद्धा की तरह पेश किया। चैनलों ने भी इन्हें हाथों-हाथ लिया। रामदेव इस प्रचार की आड़ में आम जनजीवन में काम आने वाली हर वस्तु का उत्पादन करने लगे और देखते-ही-देखते कुछ ही वर्षों में देश के हर गली-मोहल्ले में उनके उत्पादों की दुकानों के शटर खुल गये। अब तो उन्होंने भी मोदी और अमित शाह की तरह भ्रष्टाचार, कालाधन और हर नागरिक को मिलने वाला 15 लाख रुपया को अपरोक्ष रूप से जुमला ही बता दिया है, क्योंकि अब वह इन सब मसलों पर कोई बात नहीं करते बल्कि सरकारों के सहयोग से अपने साम्राज्य का विस्तार करने में व्यस्त हैं। इसमें आड़े आने वाले किसी भी शख़्स अथवा पत्रकार को अपनी तरह से 'देख' लेते हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि हाल ही में एक चैनल से अपनी आलोचना करने वाले एंकर को विदा करवाने में उन्हीं की भूमिका रही है।

दरअसल देश के बड़े नेताओं से लेकर कॉरपोरेट जगत और छुटभैया धन पशुओं की समझ में

आ गया है कि अगर ज़्यादा तेज़ गति से अपने दूसरे धंधे चमकाने हैं, राजनीतिक दलों, सरकारों और प्रशासन पर दबाव बनाने हैं, पोंगापंथ की दुकानें सजानी हैं तो अपना चैनल होना चाहिए। यही वजह है कि भारत दुनिया का अकेला ऐसा देश है जहाँ इतने अधिक निजी न्यूज़ चैनल काम करते हैं। 'देश में सूचना प्रसारण मंत्रालय से लाइसेंस प्राप्त कुल 827 चैनलों में से लगभग आधे न्यूज़ और करेंट अफ़ेयर्स श्रेणी में आते हैं। यह सम्भवत: न्यूज़ चैनलों के सामाजिक-राजनीतिक प्रभाव का ही नतीजा है कि बड़े कॉरपोरेट समूहों के साथ-साथ राजनेताओं और उद्योगपतियों से लेकर धर्मगुरुओं और बिल्डरों/चिटफ़ण्ड कम्पनियों/शराब ठेकेदारों में न्यूज़ चैनल का लाइसेंस लेने और चलाने की होड़ है।' ध्यान रहे कि यह होड़ समाज सेवा के लिए तो बिल्कुल नहीं है, जैसा कहा जाता है। यह पूरी तरह से व्यवसाय का मामला है, वह भी चैनल घाटे में चला कर। चंद न्यूज़ चैनलों को छोड़ कर अधिकांश चैनल घाटे में चलते हैं। चैनलों में पैसा लगाने वाले धन पशुओं का मुख्य उद्देश्य व्यवसायिक रूप से चैनल चलाने से ज़्यादा उसका इस्तेमाल अपने दूसरे धंधों की लाबीइंग करने के लिए होता है।

यह सम्भवत: न्यूज़ चैनलों के सामाजिक-राजनीतिक प्रभाव का ही नतीजा है कि बड़े कॉरपोरेट समूहों के साथ-साथ राजनेताओं और उद्योगपतियों से लेकर धर्मगुरुओं और बिल्डरों/ चिटफ़ण्ड कम्पनियों/शराब ठेकेदारों में न्यूज़ चैनल का लाइसेंस लेने और चलाने की होड़ है। ध्यान रहे कि यह होड़ समाज सेवा के लिए तो बिल्कुल नहीं है, जैसा कहा जाता है। यह पूरी तरह से व्यवसाय का मामला है, वह भी चैनल घाटे में चला कर।

मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय लड़कियों/महिलाओं से जुड़ा कोई घटनाक्रम होता है तो न्यूज़ चैनल ज़रूरत से ज़्यादा दिलचस्पी लेते हैं। वे सभी ख़बरें दरकिनार कर उसे महत्त्व देते हैं। एक घटना के तौर पर उसे महत्त्व देना भी चाहिए। अनेक बार उसके सकारात्मक परिणाम भी नज़र आते हैं, लेकिन इसके साथ चैनलों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि समाज के सभी वर्गों में घटने वाली इस तरह की घटनाओं से वे समान व्यवहार करें। इसी बिंदु को लेकर चैनलों की भूमिका सवालों के घेरे में आ जाती है। सभी वर्गों से जुड़े स्त्रियों संबंधी मामले उठाने की बात छोड़ दीजिए वे अपने संस्थान में काम करने वाली लड़कियों/महिलाओं के मसले उठाने में भी भेदभाव करते हैं। ऐसा ही एक वाक़या *इण्डिया टीवी* न्यूज़ चैनल की एंकर तनु शर्मा का था, जब उन्होंने चैनल के कुछ वरिष्ठ अधिकारियों पर परेशान और उत्पीड़ित करने का आरोप लगाते हुए दफ़्तर में कोशिश की। इस घटना को लगभग सभी चैनलों ने रिपोर्ट नहीं किया तो लेखक ने सवाल उठाया, 'चैनलों ने तनु शर्मा की आत्महत्या की कोशिश करने के मामले को रिपोर्ट करने लायक़ क्यों नहीं माना? कहीं यह 'कुत्ता, कुत्ते को नहीं खाता है' का मामला तो नहीं है? कहीं यह चैनलों के प्रबंधन के एक सामूहिक अपराध में शामिल होने के कारण बने 'ओमेर्ता कोड' का नतीजा तो नहीं है जिसमें अघोषित सहमति के आधार पर कोई चैनल, दूसरे चैनल के अंदरूनी हालात/समस्याओं/घटनाओं को रिपोर्ट नहीं करता है?' असल में *न्यूज़ चैनल* ही नहीं समूचे कॉरपोरेट मीडिया में इस मसले पर अपरोक्ष रूप से समझौता है कि आप मेरे यहाँ के मामले में हाथ नहीं डालेंगे और हम आपके यहाँ की गंदगी दूर करने का प्रयास नहीं करेंगे। भले ही उसमें कितनी बदबू और सड़ांध क्यों न पैदा हो जाए। यही कारण है कि मजीठिया वेतन आयोग की सिफ़ारिशें न लागू करने और समय-समय पर होने वाली पत्रकारों की छँटनी किसी भी न्यूज़ हाउस के लिए ख़बर नहीं बनती। इस बिंदु पर न्यूज़ हाउस पूरी तरह ओमेर्ता कोड का पालन कर रहे हैं। तनु शर्मा मामले के उलट जब *तहलका* पत्रिका के प्रधान सम्पादक तरुण तेजपाल अपनी ही महिला

सहकर्मी पत्रकार के साथ यौन हिंसा के आरोपों में घिरे तो न्यूज़ मीडिया की आक्रामकता चकित करने वाली थी। घटना के बहाने *तहलका* पर भी हमले शुरू हो गये और वह अपने मंसूबे में कामयाब भी हो गये। लेखक ने एक जैसे मामले में चैनलों की इस बदली भूमिका को रेखांकित करने के साथ ही एक असमिया न्यूज़ चैनल के पत्रकार/कैमरामैन/सम्पादक को भी कठघरे में खड़ा किया है, जिन्होंने पब के बाहर कुछ लम्पटों को उकसा कर एक लड़की को बेइज़्ज़त कर कपड़े फ़ाड़ने और नंगा कराने की कोशिश की।

किताब में शामिल टिप्पणियों का दायरा व्यापक है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि लेखक हर छोटी-बड़ी ख़बर पर बारीक नजर रखता है। वह पूर्वोत्तर के लोगों से किस तरह का भेदभाव किया जाता है, इसे छात्र नीडो तानिया की मौत के ज़रिये इंगित करता है तो शहरी और मध्यवर्गीय सरोकारों से जुड़े मसलों और उन पर केंद्रित आंदोलनों को ज़रूरत से ज़्यादा तरजीह देते हुए ज़मीनी आंदोलनों को अनदेखा करने की बात भी कहती है। इसी तरह से भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरी संप्रग दो सरकार के मुखिया डॉ. मनमोहन सिंह जब चुप्पी तोड़ते हुए टीवी न्यूज़ चैनलों के सम्पादकों से मिले और उसमें ख़ुशनुमा क़िस्म के सवाल-जवाब हुए तो उसे भी लेखक ने प्रेस कांफ्रेंस कम बल्कि पीआर कांफ्रेंस के तौर पर दर्ज किया। आत्म-नियमन के नाम पर न्यूज़ चैनलों की मनमानी, नीरा राडिया काण्ड के ज़रिये लॉबीइंग करते चैनल और न्यूज़ मीडिया में गहरे तक घर करती जा रही पेड न्यूज़ की बीमारी सहित तमाम मसलों को इसमें रेखांकित किया गया है। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि इन टिप्पणियों वाले क़रीबन पाँच साल के दरमियान मीडिया से जुड़ा शायद ही ऐसा कोई मसला हो, जिस पर लेखक ने क़लम न चलाई हो। रही-सही क़सर उसने अपनी भूमिका में पूरी कर दी है, लेकिन प्राक्कथन में *तहलका* के सम्पादक का नाम संजीव दुबे छप गया है, जिसे पाठकों को संशोधन के साथ संजय दुबे पढ़ना होगा।

इस तरह से मीडिया विश्लेषक, राजनीति और आर्थिक मामलों के जानकार आनंद प्रधान की 272 पेजी यह किताब पाठकों को न्यूज़ चैनल देखने की एक आलोचनात्मक समझ विकसित करने में सहायता करेगी। साथ ही चैनल देखने वालों को एक सक्रिय और सजग नागरिक बनाने की दिशा में मददगार साबित होगी, जिसका प्रतिफ़ल यह होगा कि वह टीवी पर ख़बरों के नाम पर प्रसारित होने वाली सामग्री को वेद-वाक्य की तरह नहीं लेंगे बल्कि उसमें छलनी लगाने का काम करेंगे। किताब में शामिल टिप्पणियों से गुज़रते हुए अहसास होता है कि लेखक मीडिया साक्षरता को बढ़ाने का पक्षधर है, इसका वह उल्लेख भी करता है कि 'इस किताब का मक़सद भी मीडिया साक्षरता के अभियान को आगे बढ़ाना और न्यूज़ मीडिया की निगरानी और उसकी जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए पाठक/दर्शक को सजग और सक्रिय करना है।' वैसे यह काम आसान नहीं है, जिस तरह से यहाँ बसों, रेलगाड़ियों, टैक्सियों में सफ़र करते और नुक्कड़ों पर बात करने के दरमियान लोग अख़बारों और टीवी पर प्रसारित होने वाली सामग्री का हवाला देकर विरोधी को पटकनी देने का प्रयास करते हैं उसमें उस सामग्री के विरोध में बात करना किसी चुनौती से कम नहीं होता है। इसके बावजूद इस किताब को पढ़ते और गुनते हुए एक छोटा-सा तबक़ा भी अपने को इस तरह से बदलेगा या बदलने का प्रयास करेगा वही इस किताब और इसके लेखक की उपलब्धि होगी।